

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

उपासना-साधना-आराधना प्रकरण

यथाक्रमं समारब्धं ज्ञानसत्रं समागताः ।
जिज्ञासवो यथाकालमुपविष्टाः सुशासनाः ॥ १ ॥
सत्राध्यक्षो याज्ञवल्क्य आगतास्तु मनीषिणः ।
विज्ञाः पप्रच्छ सत्रस्य समाप्तिः साद्य विद्यते ॥ २ ॥
शंकाः शेषास्तु याः संति निःसंकोचं ब्रुवन्तु ताः ।
प्रसंगानां समाधाने संशयोच्छेद इष्यते ॥ ३ ॥
अन्त्यनिष्कर्षतां याति चित्तं विश्वासपूर्वकम् ।
ईदृश्यां चित्तवृत्तौ हि दृढः शक्य उपक्रमः ॥ ४ ॥
निर्णयं व्यवहारे च नेतुं शक्यं क्रियात्मताम् ।
अस्तु तत्पृच्छ्यतां यद्वः पृच्छ्यं प्रकटितुं भवेत् ॥ ५ ॥

टीका—यथाक्रम ज्ञान सत्र प्रारंभ हुआ। जिज्ञासुगण नियत समय पर पधारे और अनुशासनपूर्वक अपने-अपने स्थानों पर बैठे। सत्राध्यक्ष याज्ञवल्क्य जी ने उपस्थित मनीषियों से पूछा, हे विज्ञानो आज सत्रावसान है। जो शंका-आशंकाएँ शेष रही हों, उन्हें निःसंकोच प्रकट करना चाहिए। प्रसंगों का सही समाधान होने पर ही संशयों का निराकरण होता है और चित्त विश्वासपूर्वक अंतिम निष्कर्ष पर पहुँचता है। ऐसी मनःस्थिति में ही कुछ ठोस कदम उठाना, निर्णय को व्यवहार में उतारना संभव होता है। अस्तु जो पूछना हो, उसे प्रकट करना चाहिए ॥ १-५ ॥

जिज्ञासूनामग्रणीः स उदगाद् गालवो मुनिः ।
सहचारिभ्यस्तथा ज्ञासा आह प्रस्तुवन् ॥ ६ ॥
गालव उवाच—
ऋतंभरा तु या प्रज्ञा तस्या गौरवमुच्चगम् ।
आत्मविद्यापथः पांथा जानन्त्यनुभवंति च ॥ ७ ॥
प्रेरणास्तस्य नैवैते व्यवहर्तुं स्वजीवने ।
अर्हन्त्यतोऽनुमानं यत्तत्त्वज्ञानस्य हे मुने ॥ ८ ॥

अभ्यासक्रम एतेषां विदितो न स तत्ततः ।
विघ्नापत्त्या न तज्ज्ञानं कर्मत्वमधिगच्छति ॥ ९ ॥
हेतुं तं ज्ञातुमिच्छामो वयं सर्वेऽवरोधकम् ।
मार्गं दर्शय तं येन महाप्रज्ञा तु या मता ॥ १० ॥
तस्या जीवनचर्यायामवधारण - संभवः ।
भवेच्छ्रुत्वा प्रसन्नोऽभूत्सत्राध्यक्ष उवाच च ॥ ११ ॥

टीका—जिज्ञासुओं में अग्रणी गालव मुनि उठकर खड़े हुए और साथियों में से अधिकांश के मन में उठने वाली जिज्ञासुओं का सार-संक्षेप प्रस्तुत करते हुए बोले, हे देव ऋतंभरा प्रज्ञा की सर्वोच्च गरिमा को हमारी ही तरह अन्य अनेक आत्मविद्या के पथिक जानते और अनुभव करते हैं, फिर भी उसकी प्रेरणाओं को जीवन में उतारते नहीं बन पड़ता। लगता है उस तत्त्वज्ञान का अभ्यास क्रम विदित न होने से ही ऐसी अड़चन आती है कि ज्ञान की कर्म में परिणति हो नहीं पाती। इस अवरोध के कारण को हम सब जानना चाहते हैं, साथ ही उस मार्गदर्शन के भी इच्छुक हैं, जिससे महाप्रज्ञा का जीवन में अवधारण संभव हो सके। सत्राध्यक्ष इस जिज्ञासा को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और बोले ॥ ६-११ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच—
ज्ञानं परिणमेच्चेत्तत्कर्मणीति मनीषिणः ।
तस्य सार्थकता प्रोक्ता जगत्स्वर्गकरं च तत् ॥ १२ ॥
ब्रह्मविद्या रहो ज्ञानमत्यंतः पौष्टिको मतः ।
आध्यात्मिकः स आहारस्तपस्विश्रमपाचकः ॥ १३ ॥
विदितं यच्च विश्वस्तं तत्र गन्तुं मनस्विनः ।
ससाहसं यतन्तेऽन्ते सफलाश्च भवंति ते ॥ १४ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले, ज्ञान को कर्म में परिणत करने में ही उसकी सार्थकता है और इससे संसार स्वर्ग बन सकता है। ब्रह्मविद्या का तत्त्वज्ञान अत्यंत पौष्टिक आध्यात्मिक आहार है, उसे पचाने के लिए तपस्वियों जैसी साधना करनी पड़ती

५.५८ प्रज्ञोपनिषद्

है। जो जाना गया है, जिस पर विश्वास किया गया है, मनस्वी उस पर चलने का भी साहसपूर्वक प्रयत्न करते हैं और इसमें सफल होते हैं ॥ १२-१४ ॥

तत्त्वज्ञानियों ने ज्ञान की उपमा सूर्य से दी है। परंतु इस उपमा की ठीक स्थिति तब बनती है जब वह आचरण में उतरे अर्थात् ज्ञानवान-विवेकवान में न केवल आत्मबोध का उदय हो वरन ऐसी प्रखरता और ऊर्जा भी उत्पन्न हो जिसके सहारे वह स्वयं का आत्मकल्याण तो करे ही, अज्ञान के भटकाव के दलदल में फँसे अन्य असंख्यों को भी उबारने में प्रकाश देने में सक्षम हो सके। यही ब्रह्मविद्या का तत्त्वदर्शन है। ज्ञानवान होने के दो लक्षण बताए गए हैं एक आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना और दूसरे विश्वबंधुत्व की अनुभूति। हँसती-हँसाती जिंदगी जीना और मिल-बाँटकर खाना, अपने सुखों को दूसरे के निमित्त बाट देना और दूसरों के सुखों में हिस्सा बटा लेना यही वह लक्षण है जिसे देखकर यह समझा जा सकता है कि ज्ञान ने कर्म में मान्यता ने प्रयास में परिवर्तित होने का साहस भरा कदम उठाया। इसी की परिणति धरती को स्वर्ग बनाने के रूप में परिलक्षित होती है।

आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान इसी का नाम है। इसे आत्मसात करने के लिए व्यक्तित्व में से अनगढ़ तत्त्वों को निकालकर बाहर करना और उसके स्थान पर प्रकाश को प्रतिष्ठापित करना होता है। यही वह साधना है जिसे अपनाकर कोई भी मनस्वी व्यक्ति अपने प्रचंड संकल्प शक्ति-साहस और धैर्य के बलबूते अपने को, अपने वातावरण को, अपने प्रभाव क्षेत्र को, यहाँ तक कि सारे विश्व को बदल सकने में समर्थ हो सकता है।

जिज्ञासवोऽस्ति ब्रह्मांडमोतं प्रोतं त्रिभिस्त्वित्त्वम् ।
जीवेश्वरप्रकृत्याख्यैस्तत्त्वैरिति मतास्थितिः ॥ १५ ॥
शक्त्यस्तिस्वईशस्य ब्रह्मा विष्णुस्तथा च सः ।
रुद्रः सृष्टेः स्थितेः कर्त्र्यः परिवर्तनकस्य च ॥ १६ ॥
त्रिभिश्चावरणैर्मर्त्य आवृतो ज्ञायतां त्वित्त्वम् ।
स्थूलेन चापि सूक्ष्मेण कारणेन च निश्चितम् ॥ १७ ॥
लक्ष्यत्रयं च लब्धव्यं सच्चिदानंदसंज्ञकम् ।
तथ्यत्रयं च द्रष्टव्यं सत्यं तत्सुन्दरं शिवम् ॥ १८ ॥
त्रयो लोकास्तथा तिस्रो गतयः सा मनःस्थितिः ।
त्रिधा परिस्थितिश्चापि त्रिधैव च मनीषिता ॥ १९ ॥
गुणकर्मस्वभावाश्च त्रिप्रकारा त्रिधा च या ।
इयं विधि व्यवस्थैव त्रिपदा कथ्यते बुधैः ॥ २० ॥
इयमेवाद्यशक्तिः सा गायत्री तिस्र आदृताः ।
धारा यस्या बुधैर्निष्ठा प्रज्ञाश्रद्धाभिधानतः ॥ २१ ॥
इमा ये त्वधिगच्छन्ति तेषां हस्तगतं स्वयम् ।
उपलब्धित्रयं तृप्तिः तुष्टिः शान्तिः सदा मृतम् ॥ २२ ॥

सद्गतिश्चेयमेवास्ति स्वर्गसंवेदना तथा ।

जीवन्मुक्तिश्च सर्वस्वं जीवनस्य समीहितम् ॥ २३ ॥

विज्ञास्त्रिधा ब्रह्मविद्या समग्रे जीवने व्रजेत् ।

व्यवहारांगतां व्यक्तित्वांगतां लाभ उत्तमः ॥ २४ ॥

टीका—हे जिज्ञासुओ यह विश्व ब्रह्मांड ईश्वर, जीव, प्रकृति के तीन तत्त्वों से ओतप्रोत है। परमात्मा की तीन शक्ति याँ ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र के रूप में सृजन, परिपोषण और परिवर्तन की व्यवस्था बनाती हैं। मनुष्य के तीन आवरण हैं, स्थूल, सूक्ष्म और कारण। उपलब्ध करने योग्य तीन लक्ष्य हैं, सत्-चित्-आनंद। इस सृष्टि में दर्शनीय तीन तथ्य हैं सत्यं, शिवम्, सुंदरम्। लोक तीन हैं, गति भी तीन और मनःस्थिति-परिस्थिति भी तीन-तीन प्रकार की ही हैं। तीन प्रकार के ही गुण-कर्म-स्वभाव पाए जाते हैं। इस त्रिधा विधि व्यवस्था को त्रिपदा कहते हैं। यही आद्यशक्ति गायत्री है। इसकी तीन धाराएँ हैं निष्ठा, प्रज्ञा और श्रद्धा। इन्हें अपनाते वाले तीन उपलब्धियाँ हस्तगत करते हैं तृप्ति, तुष्टि और शान्ति जो अमृत स्वरूप हैं। सद्गति, स्वर्ग-संवेदना और जीवन्मुक्ति भी यही हैं, जो जीवन के सर्वस्व माने जाते हैं। हे विज्ञानो इस त्रिधा ब्रह्मविद्या को समग्र जीवन में उतारने-व्यक्तित्व का अंग बनाने से ही समुचित लाभ की प्राप्ति होती है ॥ १५-२४ ॥

यहाँ ऋषि स्पष्ट करते हैं कि जड़ एवं चेतन जगत में जो कुछ भी हलचल है उन सबका संबंध गायत्री महाशक्ति से है। गायत्री को त्रिपदा कहा गया है। त्रिपदा अर्थात् तीन पद-चरण वाली तीन शरीर, तीन लोक, तीन गुण, तीन साधन, तीन अवस्था, त्रैत ब्रह्म, तीन देव, तीन शक्ति, तीन काल के रूप में इस त्रिपदाशक्ति का विस्तार माना और विवेचन किया जाता है। अमृत, पारस और कल्पवृक्ष के रूप में इसके तीन प्रतिफल, तीन अनुग्रह, तीन वरदान तत्त्वदर्शियों ने बताए हैं। भौतिक संपत्तियाँ और आत्मिक विभूतियाँ इन तीनों के ही अंतर्गत आ जाती हैं। आयु, प्राण, प्रज्ञा, पशु, कीर्ति, द्रव्य और ब्रह्मवर्चस के तृप्ति, तुष्टि, शान्ति के सद्गति, स्वर्ग एवं मुक्ति के सभी प्रतिफल इस अमृत, पारस और कल्पवृक्ष की परिधि में आ जाते हैं। देवी भागवत में परब्रह्म स्वरूपा च निर्वाण पद दायिनी कहते हुए त्रिपदा गायत्री को ब्रह्मतेजशक्ति की अधिष्ठात्री देवी बताया गया है। यही परब्रह्म का प्रकट स्वरूप है जो साधक को ब्रह्म निर्वाण पद तक सुविधा पूर्वक पहुँचाती है। समग्र उपासना करने वाले को वह अमृत-पद प्रदान करती है। गायत्री माता की सत्ता कारण शरीर में श्रद्धा, सूक्ष्म शरीर में प्रज्ञा और स्थूल शरीर में निष्ठा बनकर प्रकट होती है। निष्ठा अर्थात् संकल्प, धैर्य, साहस, पराक्रम, तप, कष्ट सहन। यही हैं वे आधार जिनका अवलंबन लेने पर साधना का समग्र स्वरूप बनता है और उसका प्रतिफल

मिलता है।

पुरुषार्थत्रयं कार्यं ब्रह्मोपासनमप्यहो ।
साधना जीवनस्यास्मै लोकाराधनमुत्तमम् ॥ २५ ॥
एकदा त्रीणि ग्राह्याणि तदन्नपानीयवायुजाः ।
आकांक्षा यदि पूर्णाः स्युर्जीवनं निर्वहेद् यथा ॥ २६ ॥
ब्रह्मोपासनमासाद्यं सामीप्यश्रमतः सदा ।
अग्नीन्धनमिवैतच्च शलभोज्ज्वलदीपवत् ॥ २७ ॥
पयः पानीयवद् बिंदुसिंधुवच्चैकतां गतः ।
द्वैतं त्यक्त्वान्ततोऽद्वैतं गृह्णात्यत्र नरः क्रमात् ॥ २८ ॥
शरणागतिरेषैव समर्पण - विसर्जने ।
कथिते, सौरभं यान्ति चंदनात्ते तृणादयः ॥ २९ ॥
स्वातिबिंदुनिगीर्येयं शुक्तिरुद्गिरतिस्वतः ।
मौक्तिकानिमहामूल्यान्युज्ज्वलानि बृहन्त्यपि ॥ ३० ॥
वल्लरी वृक्षमाश्रित्य वृक्षस्योच्छ्रयतां व्रजेत् ।
दंपतिस्तरतां गच्छेदुभयोः स्तर एष तु ॥ ३१ ॥
उपासनमतो व्यक्तमात्मिक्याः प्रगतेर्मखम् ।
आधारभूतमत्यर्थमवलंबनमत्र तु ॥ ३२ ॥
सामीप्याद् ब्रह्मणो नूनमात्मनीह परात्मनः ।
जायते महतः सेयं क्षुद्रे परिणतिः शुभा ॥ ३३ ॥
लौहपारदयोर्गोतास्वर्णोत्पत्तिरिवस्थितिः ।
सामीप्यस्याथ सारूप्यस्य सालोक्यस्यश्रेयसः ॥ ३४ ॥
सायुज्यस्येयमेवास्ति परिणामो बुधैर्मतः ।
लक्ष्यमेतज्जीवनस्योपासना लभ्यतां गतम् ॥ ३५ ॥

टीका—हे विज्ञानो इसके तीन तीन पुरुषार्थ करने होते हैं। प्रथम ब्रह्म उपासना, द्वितीय जीवन साधना, तृतीय लोक आराधना। तीनों को साथ उसी प्रकार अपनाना पड़ता है, जैसे अन्न, जल और वायु की तीन आवश्यकताएँ पूर्ण करने पर जीवन निर्वाह संभव होता है। परब्रह्म की उपासना उसकी अधिकाधिक समीपता का प्रयत्न करने से बन पड़ती है। आग-ईंधन की तरह, बिंदु-सिंधु की तरह निकट आया और अंततः द्वैत का परित्याग कर एकत्व अद्वैत अपनाया जाता है। समर्पण, विसर्जन और शरणागति यही है। चंदन वृक्ष के निकट उगे झाड़-झंखाड़ सुगंधित हो जाते हैं। स्वाति बूंदों को उदरस्थ करने पर सीप मूल्यवान् उज्ज्वल बड़ी-बड़ी मोती उगलती है। वृक्ष से लिपटकर बेल उतनी ही ऊँची उठ जाती है। पति-पत्नी की तरह दोनों का स्तर एक हो जाता है। इसलिए उपासना को आत्मिक प्रगति का प्रथम और आधारभूत आवश्यक अवलंबन माना गया है। ब्रह्म की समीपता से आत्मा में परमात्मा की क्षुद्र में महान की शुभ परिणति होती है। पारस और लोहे की समीपता से स्वर्ण बनने जैसी स्थिति उपासना करने वाले की बनती है। सामीप्य, सारूप्य, सालोक्य, सायुज्य मुक्ति की चरम परिणति यही है। जीवन लक्ष्य यही

है, जो उपासना अपनाने से प्राप्त होता है ॥ २५-३५ ॥

यहाँ ऋषि स्पष्ट करते हैं कि आत्मिक प्रगति के लिए उपासना, साधना और आराधना के त्रिविध सोपानों पर चढ़ना होता है। यह तीनों कोई क्रियाकांड नहीं है वरन चिंतन, चरित्र और व्यवहार में होने वाले उच्चस्तरीय परिवर्तन हैं। कारण शरीर-अंतःकरण की भावश्रद्धा उभारने के लिए उपासना की जाती है। इसे आत्मिक प्रगति का प्रथम और आधारभूत अवलंबन माना गया है।

आत्मा की श्रेष्ठता परमात्मा की उपासना से ही प्राप्त होती है। उपासना का अर्थ है समीप बैठना, सामीप्य अथवा उपसंग। जिसके समीप रहा जाएगा, उसकी विशेषता अपने में आ जाना स्वाभाविक है। गर्म लोहे के संपर्क से ठंडा लोहा गरम हो जाता है। हिम के संपर्क में जाने वाली वस्तु ठंडी हो जाती है। चंदन वृक्ष के समीप उगे वृक्ष उसके संपर्क से सुगंधित हो जाते हैं और प्रकाश के संग में आने वाली वस्तु प्रकाशित हो जाती है। ईंधन की हस्ती दो कौड़ी की होती है, पर जब वह अग्नि के साथ जुड़ जाता है तो उसमें सारे गुण अग्नि के आ जाते हैं। गंदा नाला गंगा में मिलकर पवित्र और महान बनता, पारस के संपर्क से लोहा सोना बनता है तथा बूँद समुद्र में मिलकर समुद्र बन जाती है। पानी दूध में मिलकर उसी भाव बिकता है। यही है उपासना का तत्त्वदर्शन। परमात्मा की उपासना करने से उसकी श्रेष्ठताओं का उपासक में आत्मांतरित होना एक अटल सत्य है। इसके लिए उच्चस्तरीय आस्थाओं के साथ एकात्म भाव की अद्वैत की स्थापना करने के लिए शरणागति, समर्पण, विसर्जन, विलय की मनोभूमि बनानी पड़ती है। वृक्ष के साथ बेल लिपटने और उसके साथ उतनी ही ऊँचाई तक जा पहुँचने की पतंग और कठपुतली की तरह अपने को तथा भगवान को डोरी पकड़ने वाला और अपने इशारे पर नचाने वाले की मान्यता बनानी पड़ती है। श्रद्धा भावना की गहनता के साथ यही मान्यता अंत में अनुभूति में बदल जाती है और इसकी परिणति क्षुद्र का महान में, नर का नारायण के रूप में होती है। यही मानव जीवन का लक्ष्य है। स्वर्ग मुक्ति यही है।

बहून्युपासनायास्तु विधानानि महीतले।

क्रियाभिर्देनिकैः कृत्यैरत्र साहाय्यमाप्यते ॥ ३६ ॥

जपध्यानार्चनायोगलया - दीननुगच्छति ।

सामीप्यस्यैकतायाश्चाभ्यासइत्यस्ति संस्थितिः ॥ ३७ ॥

एभिः कृत्यैर्यथा यस्य भावसंवेदना घना।

भवेत्सत्वनुपातेन स्वेनाभीष्टं समाश्रयेत् ॥ ३८ ॥

पूजाचिह्नार्चनैर्भावरहितैराह्निकं भवेत्।

प्रभोः सा सन्निधिश्चैक्यं भक्तौ भक्तैरपेक्ष्यते ॥ ३९ ॥

टीका—हे मुनिवर उपासना के अनेकानेक विधि-विधान

५.६० प्रज्ञोपनिषद्

हैं। दैनिक क्रिया-कृत्यों से इसमें सहायता मिलती है। जप, ध्यान, पूजा, अर्चा, लय योग इत्यादि के अनेकानेक उपचारों के पीछे समीपता और एकात्मकता का अभ्यास किया जाता है। इन कृत्यों के साथ जितनी गहरी भाव संवेदना होगी, वे उसी अनुपात से अभीष्ट को प्राप्त कराने में समर्थ होंगे। भावरहित पूजा कृत्यों की चिह्न पूजा से तो मात्र नित्य-नियम ही किसी प्रकार सधता है। समग्र उपासना में भक्त को भगवान की समीपता और एकता का अनुभव अभ्यास करना पड़ता है ॥ ३६-३९ ॥

यहाँ ऋषि स्पष्ट करते हैं कि उपासना एवं साधनाएँ भावनात्मक पृष्ठभूमि पर ही उगती और फलती-फूलती हैं। भावना से युक्त अंतःकरण में ही ईश्वर का प्रकाश अवतरित होता है। पूजा, अर्चा, जप, ध्यान, योग, लय आदि सभी उपचारों का एक तत्त्वदर्शन है, उस क्रिया के माध्यम से कुछ सोचना और सीखना पड़ता है और तदनुरूप ढलने के लिए इष्टदेव के प्रति आत्मसमर्पण की एकत्व की भाव-श्रद्धा उभारनी पड़ती है। इष्ट और उपासक का भक्त और भगवान का परस्पर संबंध भावनात्मक आदान-प्रदान का है। परमात्मा से गहन भक्ति भावना द्वारा ही तादात्म्य स्थापित होता है क्योंकि वह परमात्मा भाव श्रद्धा-प्रगाढ़ निष्ठा-दृढ़ विश्वास का समुच्चय है। कहा गया है कि भगवान भाव के भूखे होते हैं। देवान् भावता नेक अर्थात् देवता भावनाओं पर निर्भर हैं। परमात्मा भावनाओं में निवास करता है और उसी के आधार पर अंतःकरण में दर्शन देता है। जिन्हें केवल क्रियाकृत्य ही सब कुछ प्रतीत होते हैं, वे मृगतृष्णा में भटकते हैं। श्रद्धा भाव रहित उपासना तो ढोल के समान पोल व आर्डंबर मात्र है। उसे प्रदर्शन मात्र कहा जाएगा। ऐसी पंगु उपासना में कोई भी सामर्थ्य नहीं होती। उपासना को सामर्थ्य प्रदान करने के लिए श्रद्धा अनंत आत्मीयता और अटल विश्वास-भगवत निर्देश, अनुशासन का निष्ठापूर्वक परिपालन अपरिहार्य माना गया है। परमात्मा के साथ उपासक जितना भाव और कर्म से एकीभूत होता जाता है, उसी अनुपात में उसका प्रभाव प्रतिफल सामने आता है।

द्वितीयः पाद उक्तश्च साधना जीवनस्य सा।

असंख्ययोनिषु भ्रांतः कुसंस्कारयुतो नरः ॥ ४० ॥

पृथक् कार्या इमे यत्नाद् भूमेर्धातव उद्गताः।

भवन्ति मलिना बह्वौ तेषां शुद्धिरपेक्ष्यते ॥ ४१ ॥

प्राकृतं जीवनं तुल्यं पशुभिस्तदसंस्कृतम्।

कदाचिच्च पिशाचानामिवोदेति च भावना ॥ ४२ ॥

असंस्कृतं स्तरं व्यक्तुमाधातुं संस्कृतं तथा।

प्रयत्ना ये क्रियन्ते ते साधनाशब्दगोचराः ॥ ४३ ॥

सर्पाः सिंहाश्च भल्लूका वानराश्चाप्यसंस्कृताः।

साधनाभिर्नराणां ते भवन्त्येवोपयोगिनः ॥ ४४ ॥

स्वयं श्रेयोऽधिगच्छन्ति संपन्नं पालकं तथा।

कुर्वन्त्यपि धरामर्त्यैर्दन्तुरादौ समोर्वरा ॥ ४५ ॥

शोभनापि कृता चैष प्रयासः पारिवारिके।

परिष्कारेऽपि कर्तव्यस्ततो जन्मफलं भवेत् ॥ ४६ ॥

टीका—दूसरा चरण है जीवन-साधना। असंख्या योनियों में परिभ्रमण करते-करते जीव मनुष्य योनि में पहुँचने पर कुसंस्कारों से लदा रहता है। इन्हें प्रयत्नपूर्वक पृथक् करना पड़ता है। भूमि से धातुएँ कच्चे रूप में ही निकलती हैं, अग्नि संस्कार से उन्हें शुद्ध किया जाता है। प्राकृत जीवन पशुतुल्य अनगढ़ होता है। उसमें कभी-कभी पिशाचों जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ उभरती रहती हैं। इन अनगढ़ स्तर को निरस्त करने और उनके स्थान पर सुसंस्कारों को जगाने के लिए जो प्रयत्न पुरुषार्थ करने पड़ते हैं, उन्हें साधना कहते हैं। साधने पर सर्प, सिंह, रीछ, वानर जैसे अनगढ़ प्राणी उपयोगी बनते हैं स्वयं श्रेय पाते और पालने वाले को सुसंपन्न बनाते हैं। यह धरातल आरंभ में ऊबड़-खाबड़ था। मनुष्य ने ही उसे समतल, सुंदर, ऊर्वर बनाया। यही प्रयास जीवन-परिष्कार के लिए भी करना पड़ता है ॥ ४०-४६ ॥

पौराणिक मान्यता है कि जीव चौरासी लाख योनियों के चक्कर में कोल्हू के बैल की तरह घूमता और अपने कर्मों का फल उन तुच्छ प्राणियों के शरीर में रहकर प्राप्त करता है। निकृष्ट योनियों में मात्र पेट और प्रजनन यही दो लक्ष्य रहते हैं, इसी पूर्ति में निम्नस्तरीय प्राणियों की जीवन संपदा निमग्न रहती है। वे अपने को शरीर ही मानते हैं और उसी की परिधि में सोचते और उसी की सुविधा के लिए विभिन्न कर्म करते हैं। लाखों योनियों में भ्रमण करते समय जो चिंतन और कर्म अभ्यास में आते हैं मनुष्य जन्म के बाद भी वही मनःस्थिति पर छाए रहते हैं। जन्म-जन्मांतरों के पाशविक पौाचिक कुसंस्कारों की मोटी परत उस पर जमा होती है। उसे उतारने के लिए जिस खराद का उपयोग किया जाता है उसे साधना कहते हैं। पशुता को पिशाच वृत्ति को परिष्कृत करके उसे मनुष्यता के देवत्व के रूप में विकसित करना, अनगढ़ पत्थर को कलात्मक प्रतिभा के रूप में गढ़ देने की प्रवीणता में पारंगत होने का नाम ही साधना है। साधना का मूल प्रयोजन है कुसंस्कारों का निष्कासन एवं उनके स्थान पर सुसंस्कारों का स्थापन-अभिवर्द्धन। सूक्ष्म शरीर में गुण, कर्म, स्वभाव की चिंतन परक उत्कृष्टता के अभिवर्द्धन के लिए साधना की अनिवार्य आवश्यकता पड़ती है। सुसंस्कारों का अभिवर्द्धन ही प्रत्यक्षतः दैवी वरदान है जिसके मूल्य पर सब कुछ खरीदा जा सकता है।

अंतरेवोद्गता याश्च बाह्या वा दुष्प्रवृत्तयः।

ताभ्यः सतर्कः स्यात्तासां निरासो जीवसाधना ॥ ४७ ॥
विभक्ता दिनचर्या च निर्धार्या चास्य हेतवे ।
क्षणे क्षणे प्रकर्तव्य औचित्यग्रहणाग्रहः ॥ ४८ ॥
साधारण्ययुतं ग्राह्यं जीवनं श्रेष्ठचिंतनम् ।
कर्तव्यं, वासनाऽहंत्वतृष्णाभी रक्षितो भवेत् ॥ ४९ ॥
लोभव्यामोहपाशाश्च खंडनीयाः स्वयं सदा ।
सत्प्रयोजनसंलग्नैः साधनैर्भाव्यमत्र च ॥ ५० ॥
साधना जीवनस्यास्ति या स्वरूपमिदं मतम् ।

तस्या मलिनताऽऽवर्ते गते सत्यं विभाति नः ॥ ५१ ॥

टीका—भीतर से उभरने वाली और बाहर से घुस पड़ने वाली दुष्प्रवृत्तियों से सतर्क रहना और उन्हें निरस्त करते रहना जीवन-साधना है। इसके लिए संतुलित दिनचर्या निर्धारित करनी होती है। औचित्य को ही अपनाने का आग्रह हर घड़ी जीवंत रखना पड़ता है। सादगी से भरे जीवन व उत्कृष्ट चिंतन की रीति-नीति अपनानी होती है। वासना, तृष्णा, अहंता के आक्रमणों से अपनी ढाल सदा सही रखनी पड़ती है। लालच और व्यामोह की हथकड़ी बेड़ी अपने आप ही काटनी होती है। निरंतर सत्प्रयोजनों में निरत रहने की रीति-नीति अपनाए रहने में साधक को तत्पर रहना पड़ता है। जीवन साधना का यही स्वरूप है। मलीनताओं का आवरण हटने पर सत्य का दर्शन होता एवं अनुग्रह मिलता है ॥ ४७-५१ ॥

जीवन साधना अर्थात् आदतों, मान्यताओं, आकांक्षाओं को साध लेना। साधना में अपने चिंतन को उत्कृष्ट और कर्तृत्व को आदर्श बनाने के लिए हर घड़ी प्रयत्नशील रहने की सुनिश्चित योजना बनाकर चलना पड़ता है। परिष्कृत दृष्टिकोण एवं विवेक सम्मत कार्यपद्धति का निर्धारण करना होता है। इसमें ढील या छूट की तनिक भी गुंजाइश नहीं है। आत्मचेतना की जागृति ही साधना विज्ञान का लक्ष्य है। इसके लिए अपनी दुर्बलताओं और लौकिक आकर्षणों से अपना बचाव करने की तत्परता बरतनी पड़ती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह के आलस्य-प्रमाद के विकार ही मानवी चेतना के पतन के कारण बनते हैं। उनके प्रति सतत् जागरूक बने रहना तथा अपने को बचाए रहना पड़ता है। समय, श्रम, साधन, संपदा, प्रभाव एवं चिंतन का सुनियोजन इस ढंग से करना पड़ता है जिसमें अस्तव्यस्तता एवं इनके दुरुपयोग की तनिक भी गुंजाइश न रहे। विवेकयुक्त दिशा निर्धारण और जागरूकता जहाँ विचारों को उच्चस्तरीय बनाते हैं वहाँ व्यवहार में उतरकर वे चरित्रनिष्ठा का स्वरूप ग्रहण करते हैं। निर्मल एवं उदात्त चरित्र ही साधक को साधनामार्ग में आगे बढ़ाता तथा विश्वोभों से रक्षा करता है। इसके लिए सादा जीवन उच्च विचार की रीति-नीति अपनानी पड़ती है। यही

हैं वे आधार जिनका अवलंबन लेकर कोई भी साधक प्रगति के उच्चतम शिखर पर पहुँच सकता है।

शक्तिः साधनया शक्त्या सिद्धिः सिद्धांत एष हि ।
साधनास्ति तपश्चर्या तत्र युद्ध्येत् कल्मषैः ॥ ५२ ॥
मूलैरावरणैर्भूयो विक्षेपैर्हठपूर्वकम् ।
प्रकृतेः संस्कृतावंतर्विग्रहो जायते महान् ॥ ५३ ॥
धैर्येण साहसेनाथ तैः संघर्षे मनोजयः ।
जायते प्रोच्यते यश्च बुधैरात्मजयो महान् ॥ ५४ ॥
आत्मानं योजयेत्तस्य जयदुंदुभिरुद्ध्वनिः ।
दशदिक्षु भवेद् विश्वविजयी सत्विहोच्यते ॥ ५५ ॥
जीवनाराधनैरेव सामान्या अपि मानवाः ।
महामानवतां यान्ति देवर्षिष्ववतारिषु ॥ ५६ ॥
जीवनं कल्पवृक्षोऽस्ति आत्मा देवो महत्तमः ।
तस्य चाराधकाः सद्यो विभूतीर्यान्ति चाद्यताम् ॥ ५७ ॥
येनेश्वरप्रदत्तस्य न्यासस्यानुपमस्य तु ।

अपव्ययः कृतोन्मस्तः कुमार्यो चात्महा मतः ॥ ५८ ॥

टीका—साधना से शक्ति और शक्ति से सिद्धि मिलने का सिद्धांत सर्वविदित है। साधना ही तपश्चर्या है, उसमें कषाय-कल्मषों से, मल-आवरण-विक्षेपों से हठपूर्वक जूझना पड़ता है। आदतें सुधारने में आंतरिक विग्रह खड़ा होता है। उनसे धैर्य और साहस के साथ जूझने पर ही मनोविग्रह सधता है यही आत्मविजय है। जो अपने आपको जीतता है, उसकी विजय दुंदुभी दशो दिशाओं में बजती है। वह विश्व विजयी कहा जाता है। जीवन साधना से ही सामान्य स्तर के मनुष्य महामानव, ऋषि, देवता एवं अवतारी बनते हैं। जीवन कल्पवृक्ष है। आत्मदेव सबसे बड़ा देव है। उसकी साधना-तपश्चर्या करने वाले नकद धर्म की तरह विभूतियाँ पाते और संपदाओं के अधिकारी बनते हैं। जिसने इस ईश्वर प्रदत्त अनुपम धरोहर का ऐसे ही अपव्यय किया और कुमार्य में लगाया, उसे अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारने वाले की तरह अभागा ही कहा जाएगा ॥ ५२-५८ ॥

गाड़ी जब पुरानी पड़ जाती है, तो उसके कलपुर्जे अव्यवस्थित हो जाते हैं, जिसके कारण ऊर्जा का अपव्यय होने लगता है, वह ईंधन अधिक उपभोग करने लगती है। इसे रोकने के लिए नए सिरे से उसकी मरम्मत की जाती है। पुरजों को कसा और ढीलापन निरस्त किया जाता है, तभी वह श्रेष्ठ स्थिति में आ पाती है।

मानवी स्तर पर यह प्रक्रिया साधना कहलाती है। मनुष्य में विभिन्न प्रकार के दोष-दुर्गुणों के जो कषाय-कल्मष चढ़े होते हैं, उसके कारण शक्ति का सदुपयोग उससे नहीं बन पड़ता और वह निरंतर क्षीण होती जाती है। इसे रोकने के लिए साधना-प्रक्रिया में विभिन्न प्रकार के क्रियाकृत्यों का

५.६२ प्रज्ञोपनिषद्

सहारा लेना और उसे अभिवर्धित करना पड़ता है, फिर इस संवर्द्धित शक्ति को जिस भी दिशा में, जिस लक्ष्य पर लगा दिया जाता है, उसी क्षेत्र में सिद्धियाँ-विभूतियाँ संपदा हस्तगत होती चली जाती हैं। इसीलिए जीवन को कल्पवृक्ष-आत्मदेव की संज्ञाएँ दी गई हैं। व्यक्ति इसकी साधना कर इसके ढीलेपन को कसकर, उसे सुव्यवस्थित-अनुशासित बनाकर चाहे जो प्राप्त कर ले, अथवा इसका दुरुपयोग कर, शक्ति का अपव्यय कर कुमार्गगामी बन जाए और पतन-पराभव की स्थिति तक जा पहुँचे।

जीवन जीने का आज का सामान्य ढर्रा यही है। इसी कारण ऋषि जीवन साधना को विश्व-विजय स्तर का कार्य मानते हैं और वैसे व्यक्ति को जिसने अपनी आदतें सुधार लीं, मन को वश में कर लिया एवं अंतः को परिष्कृत कर जीवन को अनुशासित बना लिया, उसे विश्व जीतने जैसा कठिन पराक्रम करने के कारण विश्व विजयी की संज्ञा देते हैं। इसी पराक्रम द्वारा सामान्य व्यक्ति असामान्य स्तर के ऋषि, महामानव व अवतारी महापुरुष बनते हैं।

आत्मोत्कर्षस्य हेतोश्च य उपायस्तृतीयकः ।

आश्रीयते स संप्रोक्त आराधनामिहर्षयः ॥ ५९ ॥

आराधनार्थं सेवाया धर्म आश्रीयते तथा ।

लोकमंगलसंलग्नैर्भवितव्यं सदा नरैः ॥ ६० ॥

आकांक्षाया दयायाश्च मैत्र्याश्चात्मनदूष्यते ।

सेवायाश्चाप्युदारत्वे गृहीते तृप्तिरुत्तमा ॥ ६१ ॥

प्राणी सामाजिको मर्त्यस्तस्य याः सुविधास्तथा ।

सुरक्षाः प्रगतिश्चापि समाजसहयोगगाः ॥ ६२ ॥

ऋणादस्माद् विमुक्त्यै च लोकमंगलकर्मसु ।

दत्तचित्तैः सदा भाव्यं न जिह्वोपस्थसेवने ॥ ६३ ॥

आत्मकल्याणहेतोश्च सद्गुणा ये त्वपेक्षिताः ।

सेवाधर्मं विना ते तु नोपलभ्या भवन्ति नः ॥ ६४ ॥

टीका—ऋषियो आत्मोत्कर्ष के लिए जिस तीसरे उपाय का अवलंबन करना होता है, उसका नाम आराधना है। आराधना के लिए सेवा धर्म अपनाना होता है और लोकमंगल में निरत रहना पड़ता है। आत्मा की आकांक्षा दया, करुणा, मैत्री, सेवा की उदारता अपनाने से ही तृप्त होती है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसकी सुविधा, सुरक्षा एवं प्रगति के आधार समाज के अनुदानों से ही बनते हैं। इस ऋण से मुक्ति पाने के लिए लोकमंगल के पुण्य प्रयासों में भी दत्त चित्त होना चाहिए। सारी श्रम संपदा पेट प्रजनन में ही नहीं लगा देनी चाहिए। आत्मकल्याण के लिए जिन सद्गुणों की आवश्यकता है, उन्हें सेवाधर्म अपनाए बिना उपलब्ध नहीं किया जा सकता ॥ ५९-६४ ॥

सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य का यह कर्तव्य है

जाता है, कि जिस समाज में पलकर उसने उन्नति-प्रगति की, सुविधा-साधन प्राप्त किए, उसके उत्थान विकास का भी वह ध्यान रखे और अपने ही जैसा दूसरों को भी प्रगतिशील बनाने के लिए अपने समय का कुछ भाग समाज में लगाए। श्रम-संपदा का उपयोग वह मात्र अपनी सुख-सुविधा बढ़ाने के लिए ही न करे, वरन समाज में सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन और सेवा कार्यों में भी उनका उपयोग करे। यह मनुष्य का नैतिक दायित्व के साथ समाज ऋण भी है, जिससे मुक्ति लोकमंगल के कार्यों द्वारा ही उसे मिल सकती है। इससे जहाँ एक ओर आत्मकल्याण का, समाज उत्थान का परमार्थ प्रयोजन सधता है, वहीं दूसरी ओर व्यक्ति को सेवाधर्म का पुण्य लाभ भी मिलता है। इससे जीवन में उन सद्गुणों का विकास-अभ्यास भी शक्य-संभव हो जाता है, जो आत्मकल्याण के लिए अभीष्ट होता है। इसीलिए ऋषि ने लोक आराधना को आत्मोन्नति का आवश्यक उपाय बताया है और जीवन में इसे अपनाए जाने पर जोर दिया है।

अनादिकालमारभ्य भक्ता भगवतस्तु ये ।

ते सदा निरता दृष्टा लोकमंगलकर्मसु ॥ ६५ ॥

महात्मनां च विप्राणामर्पितं जीवनं सदा ।

एतदर्थमभूत्पूर्वं जगत्सन्मगलं वभौ ॥ ६६ ॥

मनोयोगः प्रभावश्च श्रमः कालो धनं तथा ।

सद्वृत्तिवर्धने येन मात्रया च यया तथा ॥ ६७ ॥

यावता साहसेनाथ योजितानि तथैव च ।

मात्रया तेन पुण्यस्य फलान्याप्तानि निश्चितम् ॥ ६८ ॥

पुण्यैः सदाऽऽत्मसंतोषो लोकसम्मानमेव च ।

दैवानुग्रहप्राप्तिश्च भवत्येव न संशयः ॥ ६९ ॥

टीका—अनादिकाल से भगवद्भक्तों को लोकमंगल की सेवा-साधना में निरत रहना पड़ता है। साधु-ब्राह्मणों का जीवन इसी प्रयोजन के लिए समर्पित होता रहा है, इसी से वह समय मंगलमय रहा है। श्रम, समय, मनोयोग, धन, प्रभाव को सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन में जिनने जिस अनुपात से जितने साहस के साथ नियोजित किया है उन्हें उतना ही बड़ा पुण्यफल प्राप्त हुआ है। पुण्य से ही आत्मसंतोष, लोकसम्मान और दैवी अनुग्रह की प्राप्ति होती है, इसमें संदेह नहीं ॥ ६५-६९ ॥

गुरु का सच्चा शिष्य वही कहलाता है, जो गुरु के कथनानुसार चले, उसके बताए कार्यों को करे, स्वयं संतुष्ट रहे व अपने उत्तम कार्यों द्वारा गुरु को भी संतोष प्रदान करे। सच्ची गुरुभक्ति यही है।

भगवद्भक्ति भी ऐसी ही होती है। इसमें पूजा-उपासना तो अपनी जगह होती है, उनका अपना महत्व भी है, पर वे गौण होते हैं। मुख्य होता है, भगवान के अनुशासन को मानते हुए उसके कार्यों को प्रधानता देना। भगवान का कार्य है,

उसकी सृष्टि को समुन्नत बनाना। अपने समय, श्रम, संपदा और सत्परामर्श का अधिकाधिक प्रयोग कर समाज को विश्व को सजाना-सँवारना, गिरों को उठाना और उठों को आगे बढ़ाना। यही साधु-ब्राह्मण परंपरा है और इसमें निरत रहने वाले लोग ही साधु-ब्राह्मण कहलाने के अधिकारी हैं। प्राचीनकाल से इस परंपरा का निर्वाह भगवदभक्तों द्वारा होता आ रहा है। चूँकि प्राचीनकाल में यह परंपरा जीवंत-जागृत थी, सभी सेवा-साधना को अपना नैतिक कर्तव्य मानते थे एवं अपना कुछ समय लोकमंगल के कार्यों में लगाते थे, इसलिए वह समय हर प्रकार से श्रेष्ठ व उत्कृष्ट रहा। चारों ओर खुशहाली और शांति थी। किसी को किसी से कोई शिकायत नहीं थी। सभी प्रसन्न थे। किंतु आज जब उस परंपरा का पूर्णतः लोप हो चुका है, लोग स्वार्थपरायण बन गए हैं, फलतः चारों ओर आपाधापी और अशांति दीख पड़ती है। इसीलिए ऋषि यहाँ लोकमंगल के कार्यों में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देते हैं तथा सम्मान, संतोष व दैवी अनुग्रह प्रदान करने वाला इसे सबसे बड़ा पुण्यफल बताते हैं।

सद्गतेरधिकारित्वे सेवाव्रतपरायणाः ।

अर्हन्ति, परमार्थत्वं यज्ञो मांगलिकः स्मृतः ॥ ७० ॥

वारिदश्च जगत्प्राणो मार्तण्डोऽमृतदीधितिः ।

सर्वे सेवारताः सन्ति वहन्त्यः सरितस्तथा ॥ ७१ ॥

निर्झराश्च सरन्त्येवमानन्दाय, फलानि ते ।

वृक्षा ददति गृह्णन्ति प्रतिवर्षं फलानि च ॥ ७२ ॥

यज्ञाः परार्थयोज्यास्ते परिणामेन तस्य तु ।

याजकः प्राणिनोऽप्येव कृतकृत्या भवन्ति हि ॥ ७३ ॥

उत्साहवर्धकं वातावरणं जायतेऽस्ति च ।

सेवायाः साधनायाश्च परिणामोऽयमद्भुतः ॥ ७४ ॥

टीका—सद्गति के अधिकारी सेवापरायण ही होते हैं। परमार्थ ही मांगलिक यज्ञ है। मेघ, पवन, सूर्य, चंद्र सभी सेवारत रहते हैं। नदियाँ इसी निमित्त बहती हैं। निर्झर इसी आनंद लाभ के लिए झरते हैं। वृक्ष फल देते हैं और हर साल नए फल पाते हैं। परमार्थ के निमित्त ही यज्ञ किए जाते हैं। यज्ञ के प्रतिफल से याजक ही नहीं, समस्त प्राणी कृतकृत्य बनते हैं और उत्साहवर्धक वातावरण बनता है। यह सेवा-साधना का ही प्रतिफल है ॥ ७०-७४ ॥

यहाँ ऋषि परमार्थ को यज्ञ की संज्ञा देते हैं। यज्ञ का तात्पर्य है त्याग-बलिदान, सेवा-परोपकार, पवित्रता-शुचिता। इन गुणों का कथा-प्रवचनों में बखान करने से काम नहीं चलता, वरन निज की जीवनचर्या को खुली पुस्तक की तरह रखकर सर्वसाधारण को यह बताना पड़ता है कि राजमार्ग क्या है? जिस पर चलते हुए लक्ष्य तक पहुँचा जा सके। चूँकि इन गुणों के जीवन में समावेश से व्यक्ति और समाज

का हर प्रकार से कल्याण होता है, इसीलिए परमार्थ को मांगलिक यज्ञ कहा गया है और नित्य-नैमित्तिक क्रिया की तरह इसे भी आवश्यक माना गया है। पवन, सूर्य, चंद्र, वृक्ष, नदियाँ सभी इसी प्रयोजन में निरत रहते हैं तथा मनुष्य को भी ऐसे ही कार्यों में संलग्न रहने की प्रेरणा देते हैं। ऐसे ही व्यक्ति प्रतिष्ठा, सम्मान, प्रशंसा के रूप में जीवन में सद्गति प्राप्त करते और कृतकृत्य बनते हैं।

जीवनं तु सुसंपन्नं स्रष्टुर्विश्वमिदं महत् ।

रम्यमुद्यानमत्यर्थं रम्यतां नेतुमाश्रितम् ॥ ७५ ॥

विधिः सदुपयोगस्य जीवनस्यास्य संमतः ।

परार्थो, गलितं बीजं सहस्रं फलति स्वयम् ॥ ७६ ॥

रिक्ता न वारिदाः क्वापि पूरितान् वारिधिस्तु तान् ।

विदधाति न नद्यश्च शुष्काः क्वापि भवन्ति ताः ॥ ७७ ॥

हिमालयादिमूलेभ्योऽनुदानं सन्ततं तु ताः ।

प्राप्नुवन्ति शरीराङ्गान्यपि पुष्टानि साच्छ्रतेः ॥ ७८ ॥

श्वासे गते नवं श्वासं गृह्णन्त्येते च प्राणिनः ।

उदरे रिक्ततां याते नवाहारस्तु लभ्यते ॥ ७९ ॥

परार्थैकरता ये ते लाभान् गृह्णन्त्येकशः ।

न्यूनता कृपणैर्मर्त्यैः संकीर्णैः प्राप्यते ध्रुवम् ॥ ८० ॥

मेघा ददाति चोर्णां ते नव्योर्णां प्राप्नुवन्ति च ।

कृपणो भल्लुकः केशान् नो ददात्याददाति नो ॥ ८१ ॥

उदुम्बरगताजीवा इव ते कृपणा मताः ।

तोषं मानं च पुण्यं च लभन्ते मुधमक्षिकाः ॥ ८२ ॥

सत्प्रयोजनसंलग्ना विज्ञाः सन्त्येव सर्वदा ।

उदार - साहसस्यैते लभन्ते फलमुज्ज्वलम् ॥ ८३ ॥

टीका—यह सुसंपन्न जीवन स्रष्टा के विश्व उद्यान को सुरम्य बनाने के निमित्त ही धरोहर रूप में मिला है। उसके सदुपयोग का एकमात्र उपाय परमार्थ ही है। बीज गलता है तो हजार गुना होकर फलता भी है। बादल खाली नहीं होते, समुद्र उनकी संपदा को भरी-पूरी रखता है। नदियाँ सूखती नहीं, उन्हें हिमालय आदि इनके मूल स्थानों से सदा सर्वदा अजस्र अनुदान मिलते रहते हैं। शरीर के अवयव एक दूसरे को देते और बदले में समर्थ, परिपुष्ट रहते हैं। साँस छोड़नेपर ही नई साँस लेने का सुयोग मिलता है। पेट खाली करने पर ही नया आहार उदरस्थ करने का सुयोग मिलता है। परमार्थ-परायण अनेकानेक लाभ प्राप्त करते हैं। घाटा तो कृपणता-संकीर्णता अपनाने वालों को ही पड़ता है। भेड़ ऊन देती और नई पाती है। कृपण रीछ अपने बाल किसी को देता नहीं, तो अधिक देने में प्रकृति भी अपना हाथ सिकोड़ लेती है। कृपण गूलर के भुनगे बनकर रहते हैं, किंतु परमार्थरत रहने वाली मधुमक्खियाँ सम्मान, संतोष और पुण्य का त्रिविध लाभ अर्जित करती हैं। अस्तु, विज्ञान सदा सत्प्रयोजनों के लिए सेवा

५.६४ प्रज्ञोपनिषद्

परायण रहते हैं और अपनी उस उदार साहसिकता का आनन्ददायक प्रतिफल प्राप्त करते हैं ॥ ७५-८३ ॥

यहाँ ऋषि परमार्थ परायणता का लाभ समझा रहे हैं। देखने में तो प्रथम दृष्टि में ऐसा प्रतीत होता है, मानो परमार्थी घाटे में रहा हो, पर वस्तुतः ऐसी बात है नहीं। वह सदा अनेक गुना फायदे में रहता है। बीज गलने पर ही वह वृक्ष बनकर फलता-फूलता है। नहीं गलने पर हजार गुना होने का सौभाग्य वह नहीं प्राप्त कर सकता। बादल बरसने पर ही फिर समुद्र से जल वाष्प प्राप्त कर पाते हैं। नदियाँ-झरने अपनी जलराशि लुटाते रहते हैं, इसी कारण हिमालय जैसे उद्गम से अजस्र अनुदान प्राप्त होता है। तालाब इस मामले में कृपणता बरतता है, अतः वह सूखता रहता है। नई साँस लेने के लिए अशुद्ध वायु को बाहर निकालना पड़ता है। पेट यदि खाली न हो तो नया आहार कैसे लिया जाए? भेड़ हर वर्ष ऊन देने का सत्साहस करती है, फलतः प्रकृति की ओर से उसे यह अनुदान बराबर मिलता रहता है, मगर भालू इस संदर्भ में कोताही दिखाता है, अस्तु प्रकृति भी उस पर अपनी उदारता नहीं दिखाती। कहने का तात्पर्य यह है कि जो परमार्थ परायण हैं, वह कभी घाटे में नहीं रहते। मधुमक्खी की भाँति वे वे सम्मान, संतोष और पुण्य की त्रिविध लाभ साथ-साथ उठाते हैं। घाटे में तो वे रहते हैं, जो पुण्य-परमार्थ, सहयोग सहकार से कतराते रहते व गूलर के भुनगों की तरह अपने तक सीमित रहते हैं। इसलिए विज्ञान सदा पुण्य-परमार्थ का सेवा-धर्म अपनाते हैं।

ईश्वरोपासनस्याथ साधनायाश्च ते समे।

जीवनस्यापि लोकस्य समाराधनकस्य च ॥ ८४ ॥

त्रिविधा उपचारा येऽध्यात्मनस्तु मता बुधैः।

श्रुत्वा तानृषयः सर्वे सत्रस्थास्तोषमाययुः ॥ ८५ ॥

तैर्ज्ञातश्चार्चनस्यार्थः स्वाध्यायस्यापि शोभनः।

सत्संगस्य, महार्हं तमाहारं पक्तुमेव या ॥ ८६ ॥

व्यायाम-पुरुषार्थस्य विद्यतेऽपरिहार्यता ।

प्रखरतां सुसंपन्नतां तां वापि पवित्रताम् ॥ ८७ ॥

या ददात्यलमेतासां त्रिवेण्यामवगाहनात्।

संभवत्यापि हे विज्ञाः ! पवित्राणां सुश्रद्धया ॥ ८८ ॥

साधनोपासनालोकाराधनानां च सन्ततम्।

प्राप्तुं सफलतां नान्यः पन्थाः कश्चित्तु विद्यतेः ॥ ८९ ॥

टीका—ईश्वर उपासना, जीवन साधना और लोक आराधना के त्रिविध अध्यात्म उपचारों का विस्तृत विवरण और प्रतिफल जानकर सत्र के सभी जिज्ञासु जन संतुष्ट हुए। उनसे जाना कि स्वाध्याय, सत्संग, पूजा-भजन के बहुमूल्य आहार को पचाने के लिए जिस व्यायाम-पुरुषार्थ की अनिवार्य आवश्यकता है वह पवित्रता, प्रखरता एवं संपन्नता प्रदान करने वाली उपासना, साधना और आराधना की त्रिवेणी का अवगाहन करने से ही संभव हो सकती है। सफलता प्राप्त करने हेतु और कोई मार्ग नहीं ॥ ८४-८९ ॥

अध्यात्मनस्तु क्षेत्रस्य साफल्यमथ ते ततः।

असाफल्यं विदित्वा च संतुष्टाः सत्रपूरणे ॥ ९० ॥

क्रियान्वितास्तु विश्वासान् कर्तुं निश्चित्य प्रस्तुताः।

स्वस्वावासदिशाः सर्वे नवसृष्टिमहोत्सवाः ॥ ९१ ॥

आयोजनसुसंयोगं प्रशशंसुरिमे समे।

पुनस्तथा सुयोगं च प्राप्तुं भावान्भाविषु ॥ ९२ ॥

टीका—अध्यात्म क्षेत्र की सफलता, असफलता का रहस्य समझने के उपरांत सत्र की समाप्ति पर संतोष व्यक्त करते हुए विश्वासों को क्रियान्वित करने का संकल्प लेकर सभी जिज्ञासु जन अपने-अपने स्थानों को लौट गए। नए सृजन की कल्पना से सभी उत्साहित थे। सभी ने आयोजन में सम्मिलित होने के सुयोग को सराहा और फिर वैसा अवसर मिलने का मनोभाव प्रकट किया ॥ ९०-९२ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युग दर्शन युग साधना प्रकटीकरणयोः

महर्षि याज्ञवल्क्य प्रतिपादिते उपासना साधना आराधना इति प्रकरणो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥